विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
कालगणना की सनातन पद्धति
चन्द्रशेखर जोशी

पृष्ठ क्र. 3-4
उज्जयिनी और प्राचीन व्यापारिक पथ
रवीन्द्र कुमार भारती

पृष्ठ क्र. 5-6
मुद्रा और शैलचित्रों में विक्रमादित्य
गोपाल दीक्षित

पृष्ठ क्र. 7
जनतन्त्र की जनती वैदिक परिषदें
बी. कृष्ण कुमार

पृष्ठ क्र. 8
कल्हण और कश्मीर का इतिहास राजरंगिणी
मिथिलेश यादव

कालगणना की सनातन पद्धति

चंद्रशेखर जोशी

समय के बारे में सनातन दृष्टिकोण को वैदिक समय प्रणाली के रूप में जाना जा सकता है। काल (समय) को अतीत से भविष्य की ओर तेजी से बढ़ते तीर की तरह रैखिक या एकल–दिशात्मक गति नहीं माना जाता है। हिंदू विरासत में समय का विचार ही काफी उन्नत था। हिंदू अवधारणा लय या सार्वभौमिक व्यवस्था की बात करती है जो समय के रूप में प्रकट होती है। समय की लय परमाणु की तेज टिक–टिक से लेकर संपूर्ण ब्रह्मांड के विस्तार तक होती है– पृथ्वी की भूवैज्ञानिक प्रक्रिया के भीतर प्रकट होने वाला समय, मौसम परिवर्तन आदि। भारतीय विरासत में काल (समय) स्वयं भगवान शिव से जुड़ा हुआ है। शिव को महाकाल – 'महान् समय' कहा जाता है और देवी काली समय की ऊर्जा का प्रतीक हैं। उज्जैन में खगोल विज्ञान का विकास हुआ और यह खगोलीय अनुसंधान का केंद्र बन गया। प्रसिद्ध खगोलशास्त्री और बहुश्रुत वराहमिहिर की सब से उल्लेखनीय रचनाएँ बृहत्संहिता और पंच सिद्धांतिका थीं। बृहत्संहिता एक विश्वकोश है, जिसमें ग्रहों की गति, ज्योतिष, समय–पालन, ग्रहण से लेकर वास्तुकला और कृषि तक जैसे विषय शामिल हैं। पंच सिद्धांतिका एक गणितीय खगोल विज्ञान ग्रंथ है, जो पाँच प्राचीन ग्रंथों सूर्य सिद्धांत, रोमका सिद्धांत, पौलिसा सिद्धांत, वशिष्ठ सिद्धांत और पितामह सिद्धांत का सारांश है। अति प्राचीन काल में मनुष्य ने सूर्य की विभिन्न अवस्थाओं के आधार प्रातः, दोपहर, संध्या एवं रात्रि की कल्पना की। ये समय स्थूल रूप से प्रत्यक्ष हैं। तत्पश्चात् घटी पल की कल्पना की होगी। इसी प्रकार उसने सूर्य की कक्षागतियों से पक्षों, महीनों, ऋतुओं तथा वर्षों की कल्पना की होगी। समय को सूक्ष्म रूप से नापने के लिए पहले शंकुयंत्र तथा धूपघड़ियों का प्रयोग हुआ। रात्रि के समय का ज्ञान नक्षत्रों से किया जाता था। तत्पश्चात् पानी तथा बालू के घटीयंत्र बनाए गए। ये भारत में अति प्राचीन काल से प्रचलित थे। इनका वर्णन ज्योतिष की अति प्राचीन पुस्तकों में जैसे "पंचसिद्धांतिका" तथा "सूर्यसिद्धांत" में मिलता है। पानी का घटीयंत्र बनाने के लिए किसी पात्र में छोटा सा छेद कर दिया जाता था, जिससे पात्र एक घंटी में पानी में डूब जाता था। उसके बाहरी भाग पर पल अंकित कर दिए जाते थे। इसलिए पलों को पानीय पल भी कहते हैं। बालू का घटीयंत्र भी पानी के घटीयंत्र सरीखा था, जिसमें छिद्र से बालू के गिरने से समय ज्ञात होता था। किंतु ये सभी घटीयंत्र सूक्ष्म न थे तथा इनमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थीं। विज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ लोलक घड़ियाँ तथा तत्पश्चात् नई घड़ियाँ, जिनका हम आज प्रयोग करते हैं, अविष्कृत हुई। समय का ज्ञान सूर्य की दृश्य स्थितियों से किया जाता है। सामान्यतः सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन तथा सूर्यास्त से पुनः सूर्योदय तक रात्रि होती हैं, किंतु तिथिगणना के लिए दिन–रात मिलकर दिन कहलाते हैं। किसी स्थान पर सूर्य द्वारा याम्योत्तर वृत्त के अधोबिंदु की एक परिक्रमा को एक दृश्य दिन कहते हैं, तथा सूर्य की किसी स्थिर नक्षत्र के सापेक्ष एक परिक्रमा को नक्षत्र दिन कहते हैं।

विश्व का सबसे छोटा तत्व परमाणु है। हमारे प्राचीन विद्वानों ने भी कालचक्र का वर्णन करते समय काल की सबसे छोटी इकाई के रूप में परमाणु को ही स्वीकारा है। वायु पुराण में दिए गए विभिन्न काल खंडों के विवरण के अनुसार, दो परमाणु मिलकर एक अणु का निर्माण करते हैं और तीन अणुओं के मिलने से एक त्रसरेणु बनता है। तीन त्रसरेणुओं से एक त्रुटि, 100 त्रुटियों से एक वेध, तीन वेध से एक लव तथा तीन लव से एक निमेष (क्षण) बनता है। इसी प्रकार तीन निमेष से एक काष्ठा, 15 काष्ठा से एक लघु, 15 लघु से एक नाडिका, दो नाडिका से एक मुहूर्त, छह नाडिका से एक प्रहर तथा आठ प्रहर का एक दिन और एक रात बनते हैं। दिन और रात्रि की गणना साठ घड़ी में भी की जाती है। तदनुसार प्रचलित एक घंटे को ढाई घड़ी के बराबर कहा जा सकता है। एक मास में 15–15 दिन के

दो पक्ष होते हैं। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष। सूर्य की दिशा की दृष्टि से वर्ष में भी छह–छह माह के दो पक्ष माने गए हैं– उत्तरायण तथा दक्षिणायन। वैदिक काल में वर्ष के 12 महीनों के नाम ऋतुओं के आधार पर रखे गए थे। बाद में उन नामों को नक्षत्रों के आधार पर परिवर्तित कर दिया गया, जो अब तक यथावत हैं। चौत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन। इसी प्रकार दिनों के नाम ग्रहों के नाम पर रखे गए– रवि, सोम (चंद्रमा), मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि। इस प्रकार काल खंडों को निश्चित आधार पर निश्चित नाम दिए गए और पल–पल की गणना स्पष्ट की गई। काल गणना से संबंधित हमारे प्राचीन साहित्य में मानव वर्ष और दिव्य वर्ष में भी अंतर किया गया। मानव वर्ष, मनुष्यों का वर्ष है, जो सामान्यतः 360 दिन का होता है। आवश्यकता के अनुसार उसमें घटत–बढ़त होती रहती है। दिव्य वर्ष देवताओं का वर्ष है। वहाँ छह मास का दिन और छह मास की रात्रि होती है। मनुष्यों के 360 वर्ष मिलकर देवताओं का एक दिव्य वर्ष होता है। श्रीमद्भागवत में प्रसंग आता है कि जब राजा परीक्षित महामुनि शुकदेव से पूछते हैं, काल क्या है? उसका सूक्ष्मतम और महत्तम रूप क्या है? तब इस प्रश्न का शुकदेव मुनि जो उत्तर देते हैं वह आश्चर्य जनक है, क्योंकि आज के आधुनिक युग में हम जानते हैं कि काल अमूर्त तत्व है। घटने वाली घटनाओं से हम उसे जानते हैं। आज से हजारों वर्ष पूर्व शुकदेव मुनि ने कहा– विषयों का रूपान्तर (बदलना) ही काल का आकार है। उसी को निमित्त बना वह काल तत्व अपने को अभिव्यक्त करता है। वह अव्यक्त से व्यक्त होता है। वैदिक ऋषियों के अनुसार वर्तमान सृष्टि पंच मण्डल क्रम वाली है। चन्द्र मंडल, पृथ्वी मंडल, सूर्य मंडल, परमेष्ठी मंडल और स्वायम्भू मंडल। ये उत्तरोत्तर मण्डल का चक्कर लगा रहे हैं। सूर्य मण्डल के परमेष्ठी मंडल (आकाश गंगा) के केन्द्र का चक्र पूरा होने पर उसे मन्वन्तर काल कहा गया। इसका माप है 30,67,20,000 (तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्ष)। एक से दूसरे मन्वन्तर के बीच 1 संध्यांश सतयुग के बराबर होता है। अतः संध्यांश सहित मन्वन्तर का माप हुआ 30 करोड़ 84 लाख 48 हजार वर्ष। आधुनिक मान के अनुसार सूर्य 25 से 27 करोड़ वर्ष में आकाश गंगा के केन्द्र का चक्र पूरा करता है। सारे विश्व में सप्ताह के दिन व क्रम भारत वर्ष में खोजे गए क्रम के अनुसार ही हैं। भारत में पृथ्वी से उत्तरोत्तर दूरी के आधार पर ग्रहों का क्रम निर्धारित किया गया, यथा– शनि, गुरु, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुद्ध और चन्द्रमा। इनमें चन्द्रमा पृथ्वी के सबसे पास है तो शनि सबसे दूर। इसमें एक–एक ग्रह दिन के 24 घंटों या होरा में एक–एक घंटे का अधिपति रहता है। अतः क्रम से सातों ग्रह एक–एक घंटे अधिपति, यह चक्र चलता रहता है और 24 घंटे पूरे होने पर अगले दिन के पहले घंटे का जो अधिपति ग्रह होगा, उसके नाम पर दिन का नाम रखा गया। सूर्य से सृष्टि हुई, अतः प्रथम दिन रविवार मानकर ऊपर क्रम से शेष वारों का नाम रखा गया।

यदि दुनिया में कोई–सा वैज्ञानिक कैलेंडर या समय मापन–निर्धारण की पद्धति है तो वह है भारत के प्राचीन वैदिक ऋषियों की पद्धति। इसी पद्धति को ईरानी और यूनानियों ने अपनाया और इसे ही बाद में अरब और मिस्र के वासियों ने अपनाया। किंतु कालांतर में अन्य देशों में बदलते धर्म और संस्कृतियों के प्रचलन ने इसके स्वरूप में परिवर्तन कर दिया गया। उस काल में दुनियाभर के कैलेंडर में मार्च का महीना प्रथम महीना होता था, लेकिन उन सभी कैलेंडरों को हटाकर आजकल अंग्रेजी कैलेंडर प्रचलन में है। वैदिक ऋषियों ने इस तरह का कैलेंडर या पंचांग बनाया, जो पूर्णतरू वैज्ञानिक हो। उससे धरती और ब्रह्मांड का समय निर्धारण किया जा सकता हो। धरती का समय निर्माण अर्थात कि धरती पर इस वक्त कितना समय बीत चुका है और बीत रहा है और ब्रह्मांड अर्थात अन्य ग्रहों पर उनके जन्म से लेकर अब तक कितना समय हो चुका है– यह निर्धारण करने के लिए उन्होंने एक सटीक घ्समय मापन पद्धति विकसित की थी।

उज्जयिनी और प्राचीन व्यापारिक पथ

रवीन्द्र कुमार भारती

देश को पथ–पद्धति के विकास में कितना समय लगा होगा, इसका कोई अन्दाजा नहीं कर सकता। इसके विकास में तो अनेक युग लगे होंगे और हजारों जातियों ने इसमें अपना योगदान दिया होगा। आदिम घुमक्कड़ों ने अपने पशुओं के चारे के फिराक में घूमते हुए रास्तों की जानकारी बढ़ाई होगी, पर उनके भी पहले, शिकार की तालाश में धूमते हुए शिकारियों में ऐसे रास्तों का पता लगा लिया होगा जो बाद में चलकर राजमार्ग बन गये। खोज का यह क्रम अनेक युगों तक चलता रहा और इस तरह देश में पद्धति का एक जाल बिछ गया। इन रास्तों को बनानेवालों का स्मरण वैदिक सादित्य में बराबर किया गया है। अग्नि को पपहत् इसीलिए कहा गया है कि उसने धनभोर जंगलों को जलाकर ऐसे रास्ते बनाये, जिनपर से दोहर वैदिक सभ्यता आगे बढ़ी।

प्राचीन काल में सुदूर के महत्वपूर्ण स्थलों को जोड़ने वाले व्यापारिक मार्गों का जाल सारे संसार में फैला हुआ था। भारत की महत्वपूर्ण नगरियाँ इन पथों से जुड़ी हुई थी। भारत के केन्द्र में होने से इनमें से अनेक मार्ग उज्जैन तक आते थे या उज्जैन से होकर गुजरते थे। परिणामतः उज्जैन सार्थवाहों का केन्द्र बन गया था। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त भी ऐसा ही एक सार्थवाह था जो अपने लोकोपकारी दानप्रेम के कारण दोवालिया हो गया था। आज भी उज्जैन में एक जहाज गली है। यह जहाज वाले की गली थी। इसके निवासी एक श्रेष्ठी के जहाज विदेशों तक चलते थे। दक्षिण पूर्व एशिया में कुडगद्वीप था। यहाँ बन्दरगाह था। उज्जैन में कुडगेश्वर का मंदिर था। यह गंधवती नदी के किनारे पर था। राजशेखर के अनुसार कुडंगेश्वर को केशव ने बनाया था और वह नवनदी के तट पर था। इससे स्पष्ट है कि यह गन्धवती और नवनदी के मध्य बना था और इन दोनों नदियों की दूरी अधिक नहीं थी। यह संभव है कि पूर्वोक्त केशव का दक्षिणपूर्व एशिया में विदेश व्यापार रहा हो और कुडगद्वीप से उसने पर्याप्त लाभ कमाया हो तथा उसी स्मृति में उसने कुडंगेश्वर मंदिर उज्जैन में बनवाया हो। विदेश की स्मृति और नाम पर यह प्राचीन और महत्वपूर्ण निर्मिती थी। वैदिक काल में माहिष्मती साम्राज्य के हैहयों के पास अपार पोतशक्ति थी। मध्यप्रदेश के जहाजी बेड़े का संकेत परमार भोजदेव का रहा जिनके जलयानों ने कोंकण के समुद्री बेड़े को जीता था। प्राचीन काल में भरहुत के साथ ही साँची में कई अर्धचित्र मिले हैं जिनमें जहाजों के दृश्य अंकित हैं। जो प्राचीन पथ थे प्रायः उन्हीं मार्गों पर आज के रेल या बस मार्ग बने है। सम्राट अशोक के स्तम्भ एवं लेख प्राय ऐसे महापथों पर ही लगे हैं। उज्जैन में अशोक महाकुमार के रूप में बरसों तक रहा। यहाँ अशोकीय खंडित गजप्रतिमा भी है। क्योंकि यह सार्थपथ का केन्द्र था। पालि सुत्तनिपात की वत्थुगाथा में प्रतिष्ठान से माहिष्मती उज्जयिनी, गोनदं विदिशा, वनसहाय, कोशाबी, साकेत, आवस्ती, कपिलवस्तु कुशिनगर, भोजनगर, वैशाली आदि तक पहुँचते एक सार्थपथ की चर्चा है। संभवतः इसी मार्ग से उज्जैन से कोशांबी उदयन वासवदत्ता को लेकर

गया होगा। इनमें से गोनर्द आज का गोदरमऊ है जो भोपाल नगर निगम सीमा का एक गाँव है जहाँ पतंजलि निवास करते थे। महाभारत के अनुसार मल की राजधानी निषध से एक मार्ग अवन्ती और ऋक्ष पर्वत पारकर दक्षिण की ओर जाता था तथा दूसरा विदर्भ की ओर एवं तीसरा (दक्षिण) कौशल की और। सहदेव के विजयों का मार्ग था मथुरा, मस्त्य, निषाद कुन्तिनोज की राजधानी। तब बाह चर्मण्यती (चम्बल) और नर्मदा की और विजय के लिए बढ़ा। उसने अवन्ती को जीतकर भोजकटपुर की ओर प्रयाण किया। पतंजलि के अनुसार उज्जैन से चलने पर सूर्योदय माहिष्मती में होता है– उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति। एक मार्ग उज्जैन से बार होकर माहिष्मती तक जाता था। एक मार्ग उज्जैन से माहिष्मती होता हुआ जल द्वारा भृगुकच्छ तक जाता था। यहाँ प्राचीन काल में अवन्ती की बत्ती संभवतः इसीलिए थी कि उज्जैन के श्रेष्ठी जनों की कालोनी रही होगी।

मेघदूत के अनुसार एक पथ विदर्भ से विदिशा होकर उज्जैन पहुँचता था जो दशपुर होकर कुरुक्षेत्र तथा कनखल तक चला जाता था। मेघदूत में उस पूरे पथ का सरस और व्यापक वर्णन किया गया है। इस काव्य का नायक यक्ष है और वह मार्ग बताता है। यह उल्लेखनीय है कि यक्ष मार्गरक्षक माना जाता था। इसीलिए प्राचीन महापथों के प्रमुख केन्द्र पर यक्ष प्रतिमाएँ पधराई जाती थीं और वहाँ सार्थवाह उनकी पूजा करते थे। मथुरा, विदिशा आदि स्थानों से ऐसी भव्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है। दशपुर से एक मार्ग पुष्कर होकर विराट (बराड़) नगरी तक जाता था जो जयपुर के निकट था।

वीणावासवदत्ता के अनुसार बन्दी उदयन को प्रद्योत के लोग यमुनातट से त्रिपुरी (तीवर–जबलपुर) से होकर उज्जैन लाये थे। हर्षवर्धन के समकालीन हवेनसांग ने मध्यप्रदेश में जेजाकमुक्ति (जझोति) से प्रवेश किया। यह उज्जैन से 1000 लि. (167 मील) उत्तरपूर्व में था। महेश्वरपुर (ग्वालियर) से यह 900 लि (150 मील) दक्षिण में था। उज्जैन नगरी 30 लि. या 5 मील के घेरे में बसी थी। वहाँ से हवेनसांग मालवा की राजधानी पहुँचा जो मही से दक्षिण–पूर्व में स्थित थी। मालवा की यह राजधानी भड़ोंच से 2000 लि. अथवा 333 मील दूर थी। यह संभवतः महिष्मती या उज्जयिनी थी। ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध में आये अलबरुनी ने भी उज्जैन की ओर जाते मार्ग का विवरण किया है। जजाहुति (जेजाकभुक्ति–जझोति) कन्नौज और कजूराह (खजुराहो) के मध्य था। तदनुसार एक मार्ग माहर (मथुरा) से उज्जैन जाता था। इस मार्ग पर प्रायः पाँचवें फरसख (अरबी में दूरी का माप) की दूरी पर गाँव बसे थे। वह दूदही (ललितपुर के निकट) आया, तब बामहूर, फिर भाइलसान (भेलसा), तब अर्दीन (उज्जयिनी) जहाँ महाकाल की पूजा होती है और वहाँ से धार 7 फरसख दूर है। जत्तरौर (चित्तौड़) से मालवा की राजधानी धार की दूरी 20 फरसख। उज्जैन वहाँ से सात फरसख पूर्व में और उज्जैन से मइलसान 10 फरसख दूर था। इसी प्रकार इब्नबतूता ग्वालियर से अम्बारी होता हुआ चन्देरी से उज्जैन तक पहुँचा था। गुजरात से मुगल सेना बरमंडल (जिला धार) होती हुई सीधी धरमत पहुँची थी। यह उज्जैन के निकट का स्थान है। बरमंडल के पास चन्दोड़िया में आज भी (सेना का) पड़ाव क्षेत्र है। राजशेखर के अनुसार राम का विमान लंका से सागरपार कर द्रविड़ देश, सप्त गोदावरी, कार्णाट, महाराष्ट्र, नर्मदा, लाट होता हुआ उज्जयिनी आता है। यहाँ के महाकाल और जनता की व्यापक मनोवृत्तियों के वर्णन के अनंतर मालव मण्डल, पंचाल देश, गंगातटवर्ती महोदय या कन्नौज। गंगा–यमुना का संगम–प्रयाग, काशी, मिथिला होता हुआ अयोध्या पहुँचता है। इस बीच के सभी स्थलों का रमणीय वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विविध पथों का विवेचन किया है। जलपथ, भ्रमपथ, गुप्तपथ, राजमार्ग, द्रोणमुख पथ, स्थानीय पथ, राष्ट्रपथ, विवीतपथ, संयानीयपथ, ब्यूहपथ, श्मशानपथ ग्रामपथ, सेतुपथ, वनपथ, गजपथ, क्षेत्रपत्र, रथपथ, पशुपथ, क्षुद्रपशुपथ, मनुष्य पथ आदि मार्गों में से अनेक की चौड़ाई की चर्चा भी कौटिल्य ने की है।

इस प्रकार उज्जैन का व्यापारिक संबंध देश के विभिन्न भागों से चिरकाल से रहा। यात्रा के सुख और दुःख प्राचीन युग में बहुत–कुछ सड़कों की भौगोलिक स्थिति और उनकी सुरक्षा पर अवलंबित थे। जब हम उन प्राचीन सड़कों की कल्पना करते हैं जिनका हमारे विजेता, राजे–महराजे, तीर्थवादी और घुमक्कड़ समान रूप से व्यवहार करते थे तो हमें आधुनिक पक्की सड़कों को, जिनके दोनों ओर लहलहाते खेत, गाँव, कस्बे और शहर हैं, भूल जाना होगा। प्राचीन भारत में कुछ बड़े शहर अवश्य थे पर देश की अधिक आबादी गाँवों में रहती थी और देश का अधिक भाग जंगलों से ढका था जिनमें से होकर सड़कें निकलती थीं। इन सड़कों पर अक्सर जंगली जानवरों का डर बना रहता था, लुटेरे यात्रियों के ताक में लगे रहते थे और रास्ते में सामान न मिलने से यात्रियों को स्वयं अन्न का प्रबन्ध करके चलना पड़ता था। इन सड़कों पर अकेले यात्रा करना खतरे से भरा होता था और इसीलिए 'सार्थ' चलते थे जिनकी सुव्यवस्था के कारण यात्री आराम से यात्रा कर सकते थे। सार्थ के साथ होने पर भी अनेक बार व्यापारी, दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते थे। पर इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी यात्रा नहीं रुकती थी। वे यात्री केवल व्यापारी ही न होकर भारतीय संस्कृति के प्रसारक भी थे।होकर भारतीय संस्कृति के प्रसारक भी थे। उत्तर के महापथ से होकर इस देश के व्यापारी मध्य एशिया और 'रोम' तक पहुँचते थे और यहाँ के व्यापारी इसी सड़क से होकर इस देश में आते थे। इसी सबक के रास्ते समय–समय पर अनेक जातियों और कबीले उत्तर–पबिम से होकर इस देश में पहुँचे और कुछ ही समय में इस देश की संस्कृति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर भारत के बाशिंदों में ऐसे पुल–मिल गये कि ढूँढने पर भी उनके उद्गम का आज पता नहीं चलता। पथ–पद्धति की इस महानता के कारण यह आवश्यक है कि हम उसका पूर्ण रूप से अध्ययन करें।

मुद्रा और शैलचित्रों में विक्रमादित्य

गोपाल दीक्षित

सम्वत् प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य भारतीय परम्परा में अद्वितीय शासक रहे हैं। 2070 वर्ष पूर्व उन्होंने जिस सम्वत् का प्रवर्तन किया था। वह कृत, मालव अथवा विक्रम या विक्रमादित्य के नाम से समय–समय पर प्रचलित रहा। आज भी वह विक्रम सम्वत् के नाम से विख्यात है। भारतीय तथा विदेशी विभिन्न भाषाओं में प्राचीन काल से ही विक्रमादित्य की वीरता, दानप्रेम, न्यायशील, पराक्रम, लोकप्रियता तथा आदर्श चक्रवर्ती शासक के रूप में चर्चित रहे हैं। उनकी लोकप्रिय कहानियाँ पुराणों, साहित्य तथा लोक साहित्य में प्रचुर रूप से पायी जाती हैं। विक्रम सम्वत् के अनुसार दिनचर्या पूरे उत्तर भारत में प्रचलित है। तात्पर्य यह कि भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय राजा विक्रमादित्य हैं।

नर्मदा तट से प्राप्त उज्जयिनी के सिक्के पर बेलगाम तेजी से भागता घोड़ा अंकित है। अश्वमेघ अथवा राजसूर्य यज्ञ के लिए छोड़ा गया अश्व बेलगाम होता था, जिससे वह अपनी इच्छानुसार दिशा दिशा में देशों–प्रदेशों की यात्रा कर सके। कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र में भी अश्वमेघ के लिए शुंग राजा पुष्यमित्र द्वारा छोड़ा गया अश्व बेलगाम यात्रा कर रहा था। राजा विक्रमादित्य के सिक्के पर अंकित घोड़ा भी बेरोकटोक तीव्र गति से भागता अंकित है। घोड़े के पीठ पर दंडाकार है। वह जयध्वज है या पंख यह स्पष्ट नहीं है। जय ध्वज हो तो विक्रमादित्य की जय यात्रा का प्रतीक है। यदि वह पंख है तो वह उड़ता घोड़ा है। उड़ता घोड़ा विक्रमादित्य की तीव्र गति से विजय यात्रा का प्रतीक है। राजा भोज की श्रृंगारमंजरी कथा में विक्रमादित्य के उड़ते घोड़े का वर्णन पाया जाता है।

श्री विक्रम, राजा विक्रम आदि सिक्कों पर अंकित है। एक सिक्के पर उज्जयिनी और विक्रम अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि यह विक्रम उज्जैन का ही था। अक्षर ईस्वी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मी लिपि में है। सिक्कों पर उज्जयिनी चिह्न उन्हें प्राचीन सिद्ध करते हैं। उज्जयिनी चिह्न वेदी में कल्पवृक्ष राज्य की निरन्तर सुख समृद्धि बताते हैं। दण्डधारी शिव राजा के शैव सिद्ध करते हैं। उज्जयिनी चिह्न पर म का अंकन महादेव और मालव दोनों का संकेत करते हैं। सूर्य ध्वज राजा को सूर्य–सा प्रतापी और उज्जैन को सौर कालगणना का केन्द्र भी सिद्ध करते हैं। इस प्रकार नर्मदा तट से प्राप्त सिक्कों से विक्रमादित्य संबंधी कई तथ्य प्रकट होते हैं, जिनकी इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण भूमिका होगी। नर्मदा का तटवर्ती क्षेत्र भीमबेटका सर्वविदित है कि वहाँ प्रागैतिहासिक गुफाएँ हैं। गुफाओं में प्रागैतिहासिक से लेकर मध्यकाल तक के चित्र प्राप्त होते हैं। विक्रमादित्य का एक महत्वपूर्ण प्रमाण नर्मदा के तटवर्ती क्षेत्र भीमबेटका में प्राप्त हुआ है। नर्मदा के तटवर्ती क्षेत्र कसरावद से में हुए उत्खनन से प्राप्त पात्र पर मूलदेव ब्राह्मी अक्षर में लिखा है। मूलदेव विक्रमादित्य का सभासद था। इसी क्षेत्र से मूलदेवस नामांकित मृण सील प्राप्त हुई है, जिसकी लिपि ईस्वी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मी, भाषा–प्राकृत है। मूलदेव का एक महत्वपूर्ण प्रमाण सन् 1977 में हुए अयोध्या के पुरा उत्खनन से प्राप्त हुआ है। इस उत्खनन से सिक्के प्राप्त हुए है, जिसमें मूलदेवस नामांकित है। सिक्के के पुरोभाग पर दक्षिण मुख्य वृषभ के साथ वहीं ध्वजदण्ड और कहीं तीन चाप का चौत्य है। पीछे वैदिक वृक्ष और उज्जयिनी चिह्न बना हुआ है। मूलदेव का एक ओर प्रमाण साँची के स्तूप में सूचित है। विपुला (मूलदेव की गणिका प्रेमिका) उज्जयिनी की विपुला लेख। एक ओर अचला (मूलदेव की गणिका प्रेमिका) नन्दिनगर की अचला भिक्षुणी इसका साँची स्तूप पर दो बार लेख है। मूलदेव का एक प्रमाण हमें अवश्लेश्वर के स्तम्भ पर अंकित लेख में प्राप्त होता है. जिसमें लिखा है भगवता आपरा तापुसेना ससपुतस सभायस अथवा पुसेन या तापुसेन शशपुत्र ने भार्या सहित यह स्तम्भ बनवाया। शश मूलदेव का मित्र था। मूलदेव विक्रमादित्य का सभासद था। अतः स्तम्भ लेख विक्रमादित्य कालीन है। यह स्पष्ट होता है कि भारत का न्याय प्रिय राजा विक्रमादित्य चक्रवर्ती सम्राट था। उसके पुरा प्रमाण भारत भर में प्राप्त होते हैं। नर्मदा नदी के तटवर्ती क्षेत्र से प्राप्त साक्ष्य विक्रमादित्य के

इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात्, स्थानिक, जानपदिक एवं अनुवांशिक राज्य स्थापित किये। इन नवोत्थित राज्यों ने अपने सिक्के, मुख्यतः ताँबे के चलाये थे। उनके चाँदी के भी सिक्के बहुत ही कम हैं। आहत–मुद्राओं की पद्धति पर बने चौकोर अथवा आयताकार डेढ़ इंच लम्बे और पौन इंच चौड़े ताँबे के सिक्के बिहार में अनेक स्थलों से मिले हैं। उन पर एक ओर पाँच और दूसरी ओर चार लांछन है। पाँच चिह्नों वाला समूह मौर्यकालीन चाँदी की आहत मुद्राओं के लांछन–समूह से काफी समानता रखता है, किन्तु बनावट में उनसे भिन्न है। इन सिक्कों को ई.पू. 184 में मौर्य–सिंहासन अपहृत करने वाले पुष्यमित्र शुंग ने प्रचलित किया होगा ऐसी धारणा है। पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी जब मगध त्यागकर विदिशा चले गए तो वहाँ भी उन्होंने अपनी आहत–मुद्राओं की तकनीक में बने सिक्के चलाये। इन सिक्कों पर एक लांछन का स्थान आलेख ने लिया है। उनमें नारायण मिश्र, भूमिदत्त, हस्तिदेव, भानुमित्र, दामभद्र, भगिला, कविभूति नाम है। ये सिक्के सम्भवतः परवर्ती शुंगशासकों और उनके उत्तराधिकारी कण्वों के हैं। सिक्के बनाने के लिए आहत निर्माण–प्रणाली के स्थान नवीन प्रणालियाँ अपनायी गयी तथापि लांछनों का प्रयोग पूर्ववत् बना रहा। अधिकार की अभिव्यक्ति के लिए लेखों का एक नया तत्व भी इनके साथ जुट गया। अर्थात् इन सिक्कों पर लेखों का प्रयोग होने लगा।

इस काल के कुछ अभिलेखरहित सिक्के उत्तर–पश्चिम में गांधार से, गंगा काँठे में कौशाम्बी से और मध्य भारत में एरण और उज्जयिनी से मिले है। उज्जयिनी के सिक्के असंख्य भांतों के है। अधिकांश पर एक ओर उज्जयिनी चिह्न कहा जाने वाला प्रतीक है। कुछ सिक्कों पर उज्जयिनी चिह्न के स्थान पर मेढ़क देखने में आता है। अभिलेखयुक्त सिक्के अपने लेखों के अनुसार तीन प्रकार के हैं– नागर, जनपदीय और वैयक्तिक। नागर सिक्कों पर नगर–नाम अंकित है, कदाचित् इन्हें नगर राज्यों ने प्रचलित किया था। सिक्कों से ज्ञात इस काल के अन्य नगर राज्य थे– गंगा कार्ड में वाराणसी, श्रावस्ती और कौशाम्बी, पूर्वी राजस्थान में उद्द्धेहिक और सुदवास, मध्यभारत में उज्जयिनी, एरकिण्य, विदिशा, महिष्मती, कुरर, भगिला और त्रिपुरी, दक्षिण में नगर। ये सभी नगर–राज्य अल्प जीवी थे। इनमें से अधिकांश के पीछे चलकर राजतंत्र का रूप धारण कर लिया। इन नगर राज्यों में से कुछ के, विशेषतः राजस्थान के सिक्कों पर स्थान और शासक दोनों के नाम मिलते है। इन सिक्कों का महत्व इस बात में है कि इस तथ्य को उद्द्धमासित करता है कि उस नगर राज्य में शासन–शक्ति नगर–देवी में अंतर्भूत थी। पंजाब के जनपदीय राज्य औदुम्बर, कुणिन्द ओर यौध्योय, जो नगर–राज्यों के प्रायः समकालिक थे, इसी प्रकार के थे। उन्होंने अपने इष्ट देवों–महादेव (शिव), चत्रेश्वर (शिव) और ब्रह्मण्य (कार्तिकेय) के नाम पर सिक्के प्रचलित किये थे। इस प्रकार ई.पू. दूसरी शती में सिक्के प्रचलित करने वाले राज्य आग्रेय, राजन्य, शिवि, त्रिगत और यौधेय ज्ञात होते हैं। इनमें यौधेय का अस्तित्व तो गुप्त साम्राज्य के उदय तक रहा। ई.पू. दूसरी शती के जनराज्यों के अपने को अपने सिक्कों पर जनपद नाम से अभिहित किया है। उनका नाम सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि में लिखा मिलता है। कुछ जनपदों ने अपने नाम के साथ अपने स्थान का भी उल्लेख किया है। परवर्ती जनराज्यों में अनेक राज्यों के सिक्के ऐसे हैं, जिन पर जन–नाम के साथ–साथ राजा अथवा महाराजा उपाधि से युक्त वैयक्तिक नामों का उल्लेख हुआ है। प्रत्येक जन–राज्य के सिक्कों का अपना–अपना भार–मान था और कइयों ने खरीज के रूप में एक से अधिक मूल्य के सिक्के चलाये थे। कुछ जनराज्यों के सिक्के चाँदी के भी थे, किंतु वे अब दुर्लभ है। चाँदी के सिक्के यवन–राजाओं के हेमी–दुरूम सिक्कों के मार–मान के है और उनकी बनावट भी उनके सिक्कें से मिलती–जुलती हुई है। यौधेयों के परवर्तीकालीन सिक्के सुडौल बनावट के है और उन पर कुषाण प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस काल में गंगा–यमुना के कांटे में राज–तंत्र का विकास हुआ। वहीं उनके सिक्कों से चार बड़े राज्यों के होने का पता लगता है। इनमें एक तो शूरसेन था, जिसकी राजधानी मधुरा थी, दूसरा पांचाल था, उसकी राजधानी अहिच्छत्र (रामनगर, जिला बरेली) थी। तीसरा वत्स था। उसकी राजधानी कौशाम्बी थी और चौथा कोसल था उसकी राजधानी या तो श्रावस्ती (सहेत–महेत, जिला गोंडा) रही होगी या फिर साकेत (अयोध्या, जिला फैजाबाद)। शूरसेन (मथुरा) के राज्य पर पहले शक क्षत्रपों ने अधिकार किया। बाद में उस पर कुषाणों का आधिपत्य हुआ। विदेशी राजाओं में रजुबुल पहला राजा था। पहले यह पंजाब के कुछ भाग पर शासन करता था। उसके अद्यतन सिक्के हेमीद्रख्य भारमान के हैं और उनकी चाँदी में काफी मात्रा में सीसे की मिलावट है। देखने में वे बाख्त्री–भारतीय नरेश स्ट्रेटो (प्रथम एवं द्वितीय) के उत्तरकालीन सिक्कों से बहुत कुछ मिलते हुए हैं। इन पर एक ओर राजा को दक्षिणाभिमुख छवि और भ्रष्ट यावनी भाषा में नाम के साथ बेसीलियास बेसीलियास सोटोरास विरुद हैं। रजुबुलके बाद उसके दो सोडाश और तोरणदास शासक बने, पश्चात कुछ काल तक हगाम और हगामश ने संयुक्त रूप से शासन किया। फिर हगामश अकेले शासक रहा। उनके बाद शिवदत्त और शिवघोष नामक दो अन्य शासक हुए। रजुबुल और सोडास के सिक्कों पर उन्हें महाक्षत्रप कहा गया है।

पांचाल के सिक्कों में अविच्छिन्न एकरूपता देखने में आती हैं और उनसे वहाँ के इक्कीस राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं। वे हैं– रुद्रगुप्त, जयगुप्त, दामगुप्त, बंगपाल, विश्वपाल, यज्ञपाल, वसुसेन, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, फाल्गुनीमित्र, बृहस्पतिमित्र, अणुमित्र, वरुणमित्र और प्रजापति मित्र। सूर्यमित्र और भानुमित्र के सिक्कों पर एक जगती पीठ पर सूर्य का प्रतीक रखा है। इसी प्रकार अग्निमित्र के सिक्के पर जो मानव आकृति है, अच्युत नाम शासक के सिक्के भी मिले हैं, जिसका उल्लेख प्रयाग–प्रशस्ति में हुआ है।

जनतन्त्र की जननी वैदिक परिषदें

बी.कृष्ण कुमार

आधुनिक जनतन्त्र की जननी वैदिक परिषदों को प्राचीन भारत में न्याय तथा प्रशासन की दृष्टि से सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था। वे सर्वमंगलकारी धर्म पर आधारित थीं। समाज और राजा, परिषदों द्वारा ही शासित होते थे। वैदिक युग में ऐसी परिषदों के अस्तित्व के द्योतक अनेक प्रमाण उपलब्ध है, जो न्याय, शासन तथा सामाजिक कार्यकलापों के निर्णय के लिए राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्तियों, जिनमें वृद्ध तथा युवा सम्मिलित थे, सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों और विभिन्न शिल्पों एवं व्यवसायों से सम्बद्ध कर्मकरों तथा शिल्पियों का प्रतिनिधित्व करती थीं। ये परिषदें राष्ट्रीय कार्यों में राजा की सहायता तथा प्रजा के प्रति उत्तरदायी हुआ करती थी। राजा या शासक भी उनके प्रति उत्तरदायी होता था। वे वस्तुतः राजा और प्रजा के बीच मध्यस्थता का कार्य करती थीं। वे ही राजा का चयन करती थीं और उन्हीं की उपस्थिति में राज्याभिषेक के समय राजा राष्ट्र के प्रति सत्यनिष्ठा की शपथ लेता था। इन परिषदों को समिति, सभा या नरिष्टा कहा जाता था। वैदिक युगीन परिषदों में 'समिति' का विशेष महत्व प्रतीत होता है। वैदिक राष्ट्र में प्रजा ही सर्वोच्च शक्ति थी। वही राष्ट्र–व्यवस्था के लिए राजा का चयन तथा उसको पदच्युत करने के लिए अधिकृत थी। यदि राजा विश (प्रजा) के सामने की गयी प्रतिज्ञा के प्रतिकूल कार्य करता था तो उसे तुरन्त पदच्युत कर दिया जाता था। विच की एक समिति होती थी, जो राजा के माध्यम से राष्ट्र के सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करती थी। समिति का कोई सदस्य उसका अध्यक्ष या सभापति (ईशान) चुना जाता था। प्रत्येक बैठक में राजा की उपस्थिति आवश्यक थी। यह स्वयं इस समिति का एक सदस्य था। शासक और समिति के सदस्यों की सहमति से कोई भी कार्य हाथ में लिया जा सकता था। सामाजिक व्यवहार सार्वजनिक कार्य तथा विषयों पर समिति में बाद–विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। राजनीतिक दृष्टि से इस लोक–संस्था का बड़ा महत्व था, क्योंकि उगी के द्वारा समस्त राष्ट्र का संचालन तथा नीतियाँ निर्धारित होती थी। समिति का प्रत्येक सदस्य अपनी ओजस्वी वक्तृता एवं अकाट्य तर्कशक्ति के बल पर अपने अभिमत को प्रस्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। न्याय तथा प्रशासनिक कार्यों के साथ–साथ शिक्षा, संस्कृति और ज्ञान–विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर विचार करना भी उसके अधिकारों के अन्तर्गत था। वैदिक युग की इस सर्वोच्च लोक–परिषद का परवर्ती भारत में अनेक रूपों में विकास–विस्तार हुआ। वह धर्म तथा न्यायिक विषयों की परामर्शदातृ अनिति थी। बौद्ध तथा नीति–ग्रन्थों और महाकाव्यों में उक्त जन–परिषद को शासन के प्रभावशाली अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैदिक युग में समिति के अतिरिक्त सभा नाम से एक पृथक परिषद के अस्तित्व का पता चलता है। अथर्ववेद में सभा तथा समिति का अलग–अलग नाम निर्देश हुआ है और दोनों को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है (सभा च समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरी सविदाते)। अर्थवेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि 'हे इन्द्र, इन सभी संसदों में मुझे भी भागी बनाओं इस मन्त्र में प्रयुक्त संसद शब्द को सायणाचार्य ने सभा के अर्थ में ग्रहण किया है। आधुनिक विद्वानों ने उसके भिन्न–भिन्न अर्थ लगाये हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संसद वैदिक युग की एक ऐसी परिषद थी, जिसमें जनसभा, राजा की और से नियुक्त समिति की सदस्य सम्मिलित हुआ करते थे। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का अभिमत है कि सभा' सम्भवत चुने हुए लोगों की संस्था होती थी और समिति के अधीन होकर कार्य करती थी। उसका सम्बन्ध मुख्यतः न्यायालय से था और इस विषय पर वह राजा को सलाह देती थी। समिति से सभा का स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र कुछ भिन्न था। सना राष्ट्र के चुने हुए लोगों की एक संस्था थी, समिति विश की संस्था थी, जिसमें विभिन्न पेशेवरों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र की रक्षा–व्यवस्था का कार्य समिति तथा न्याय और नीति निर्धारण का कार्य सभा द्वारा सम्पन्न होता था। इस प्रकार सभा धर्मपालिका या न्यायपालिका के रूप में विद्यमान थी। समिति और सभा के अतिरिक्त नरिष्टा नाम की एक सर्वोच्च परिषद भी थी। इस राष्ट्रीय परिषद् के सम्बन्ध में अथर्ववेद के एक सन्दर्भ में कहा गया है कि हे समे, मैं तेरा नाम जानता हूँ। तेरा नाम नरिष्टा (अजेया) है। तेरे जितने सभासद हैं, वे मेरी ही में ही मिलायें। सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ देते हुए लिखा है कि नरिष्टा परिषद में अनेक व्यक्तियों द्वारा लिये गये निर्णयों को पुष्टि होती थी। उसका उल्लधन कोई नहीं कर सकता था। उसके सभासदों या पारिषदों द्वारा एकमत से निर्णीत विषयं की अनुल्लधनीयता के कारण ही उसको नरिष्टाश (अजेया) कहा गया है। उसका निर्णय इसलिए सर्वमान्य हुआ करता था। क्योंकि वह जन–समुदाय द्वारा एकस्वर में स्वीकृत होता था।नरिष्टा परिषद के आयोजन के लिए सम्भवतः पृथक् सभा भवन हुआ करता था, जिसको कभी–कभी नृत्य, गीतादि (नरिष्टा, नृत्तानि) मनोविनोदी के लिए भी उपयोग में लाया जाता थ। इन उल्लेखों से ऐसा विदित होता है कि अधर्ववैदिक भारत में नरिष्टा की लोकप्रियता अधिक प्रकाश में आ गयी थी। वैदिक युग की समिति, सभा तथा नरिष्टा आदि परिषदों ने भावी भारत की जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। इन समितियों के न्याय प्रशासन और राष्ट्रीय सुरक्षा–व्यवस्था–सम्बन्धी निर्णय तथा पद्धतियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शासक या राजा और शासित या प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध बड़े सौहार्दपूर्ण थे।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

कल्हण और कश्मीर का इतिहास राजतरंगिणी

'राजतरंगिणी' कल्हण द्वारा रचित एक संस्कृत ग्रन्थ है। जिसकी रचना 1148 से 1150 के बीच हुई। कश्मीर के इतिहास पर आधारित इस ग्रंथ की रचना में कल्हण ने ग्यारह अन्य ग्रंथों का सहयोग लिया है जिसमें अब केवल नीलमत पुराण ही उपलब्ध है। यह ग्रंथ संस्कृत में ऐतिहासिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रथम प्रयास है। इसमें आदिकाल से लेकर 1151 ई. के आरम्भ तक के कश्मीर के प्रत्येक शासक के काल की घटनाओं क्रमानुसार विवरण दिया गया हैं। यह कश्मीर का राजनीतिक उथलपुथल का काल था। आरंभिक भाग में यद्यपि पुराणों के ढंग का विवरण अधिक मिलता है।, परंतु बाद की अवधि का विवरण पूरी ऐतिहासिक ईमानदारी से दिया गया है।

अपने ग्रंथ में कल्हण ने इस आदर्श को सदा ध्यान में रखा है इसलिए कश्मीर के ही नहीं, तत्काल भारतीय इतिहास के संबंध में भी राजतरंगिणी में बड़ी महत्वपूर्ण और प्रामाणिक सामग्री प्राप्त होती है। राजतरंगिणी के उद्धरण अधिकतर इतिहासकारों ने इस्तेमाल किये है। इस ग्रंथ से कश्मीर के इतिहास के बारे में जानकारी मिलती है। कल्हण की राजतरंगिणी में कुल आठ तरंग एवं लगभग 8000 श्लोक हैं। पहले के तीन तरंगों में कश्मीर के प्राचीन इतिहास की जानकारी मिलती है। चौथे से लेकर छठवें तरंग में कार्कोट एवं उत्पल वंश के इतिहास का वर्णन है। अन्तिम सातवें एवं आठवें तरंग में लोहार वंश का इतिहास उल्लिखित है। इस पुस्तक में ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध उल्लेख है।

कल्हण ने पक्षपातरहित होकर राजाओं के गुण एवं दोषों का उल्लेख किया है। पुस्तक के विषय के अन्तर्गत राजनीति के अतिरिक्त सदाचार एवं नैतिक शिक्षा पर भी प्रकाश डाला गया है। कल्हण ने अपने ग्रंथ राजतरंगिणी में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है। यह माना जाता है कि 'राजतरंगिणी' 1147 से 1149 ईस्वी के बीच लिखी गई। बारहवीं शताब्दी का यह काल कश्मीर के इतिहास का एक ऐसा काल है जिसे यूँ भी कहा जा सकता है कि आज वही इतिहास अपने आपको फिर से दोहरा रहा है। कल्हण के समय कश्मीर राजनीतिक अस्थिरता और उठापटक के दौर से गुजर रहा था। कल्हण ने कश्मीर के इतिहास की सबसे शक्तिशाली महिला शासक दिद्दा का उल्लेख किया है, जो 950–958 ईस्वी में राजा क्षेमगुप्त (क्षेमेन्द्र गुप्त) की पत्नी थी और शारीरिक रूप से कमजोर पति के कारण उसी ने सत्ता का पूरी तरह उपयोग किया। वह पति की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठी और उसने एक साफ सुथरा शासन देने की

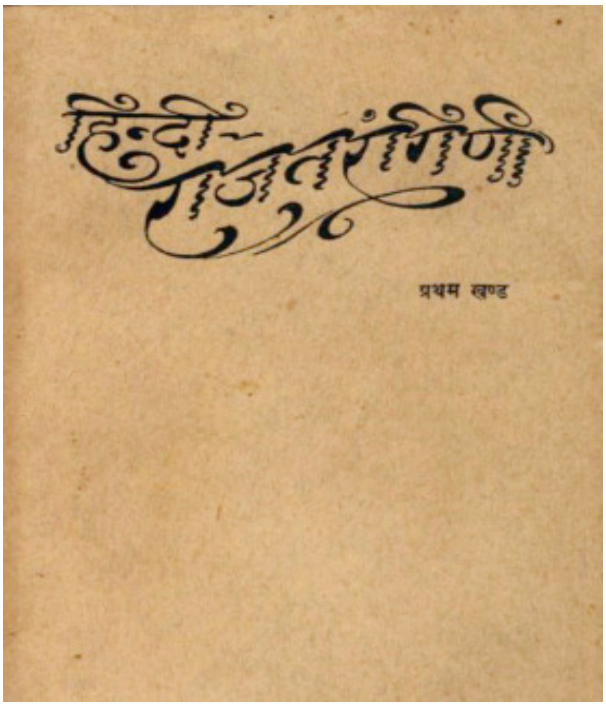

कोशिश करते हुए भ्रष्ट मंत्रियों और यहाँ तक कि अपने प्रधानमंत्री को भी बर्खास्त कर दिया लेकिन दिद्दा को सत्ता और वासना की ऐसी भूख थी, जिसके चलते उसने अपने ही पुत्रों को मरवा दिया। वह पुंछ के एक ग्वाले तुंगा से प्रेम करती थी, जिसे उसने प्रधानमंत्री बना दिया। इतिहास का ऐसा वर्णन सिवा कल्हण के किसी और संस्कृत कवि ने नहीं किया। 120 छंदों में लिखित 'राजतरंगिणी' में यूँ तो कश्मीर का आरम्भ से यानी 'महाभारत' काल से लेकर कल्हण के काल तक का इतिहास है, लेकिन मुख्य रूप से इसमें राजा अनंत देव के पुत्र राजा कैलाश के कुशासन का वर्णन है। कल्हण बताते हैं कि कश्मीर घाटी पहले एक विशाल झील थी जिसे कश्यप ऋषि ने बारामुला की पहाड़िया काटकर खघली किया। श्रीनगर शहर सम्राट अशोक महान ने बसाया था और यहीं से बौद्ध धर्म पहले कश्मीर घाटी में और फिर मध्य एशिया, तिब्बत और चीन पहुँचा। 'राजतरंगिणी' एक ऐसी रचना है, जिसे संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यों का 'मुकुटमणि' कहा जा सकता है। राजतरंगिणी का देश–विदेश में सर्वत्र आदर हुआ है। इसमें महाभारत–काल से आरम्भ कर 1150 ईसवी तक के कश्मीरी नरेशों का इतिवृत्त तथा चरित्रांकन अत्यन्त हृदय तथा प्रसादिक शैली में किया गया है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com